कामायनी के श्रद्धा सर्ग का सौन्दर्य

इसमें कोई दो राय नहीं कि हिन्दी आलोचना का एक वर्ग एक ऐसे दौर में पहुँच गया है, जहाँ जयशंकर प्रसाद अप्रासंगिक लगते हैं और निराला समकालीन। इसके पीछे यथार्थ एवं आधुनिकता का वह तथाकथित सरलीकृत फार्मूला जो सहजता, सरलता, दोटूकपन को ही मूल्यांकन का प्रतिमान मानता है और यथार्थ के नाम पर निराला एवं मुक्तिबोध की खास टोन की कविताओं को ही रेखांकित करते हैं। यह साहित्य के मूल्यांकन की अधूरी दृष्टि है। जबकि प्रसाद जैसे छायावादी कवि मुक्तिबोध, विजयदेव नारायण साही, रामस्वरूप चतुर्वेदी, रमेशचन्द्र शाह, अशोक वाजपेयी, नामवर सिंह, सत्य प्रकाश मिश्र जैसे कई पीढ़ी के आलोचकों को जरूरी लगते हैं। मुक्तिबोध ने प्रसाद के महाकाव्य की 'सभ्यता समीक्षा' की है और यह भी स्वीकार किया कि, 'मानव समाज और आधुनिक सभ्यता सम्बन्धी गहन प्रश्नों की तीव्रता उनमें हैं।', तो इसके पीछे प्रसाद के पास की वह सांस्कृतिक विरासत है, जिसकी आज के यान्त्रिक युग में बड़ी जरूरत है, समरसता हीन बौद्धिक आलोचकों को प्रसाद की इन पंक्तियों को ठीक से एवं फिर से तथा यथार्थ के सरलीकृत फार्मूले से बाहर निकलकर पढ़ना चाहिए-

ज्ञान दूर कुछ, क्रिया भिन्न है
इच्छा क्यों पूरी हो मन की,
एक दूसरे से न मिल सके,
यह विडम्बना है जीवन की।

तभी उन्हें भारतीय साहित्य की सांस्कृतिक विरासत को समझने में मदद मिलेगी। मुक्तिबोध एक ओर उन्हें सभ्यता समीक्षक मानते हैं, तो वहीं दूसरी ओर यह भी कहते हैं कि 'प्रसाद वास्तविकताओं से अधिक अपने अमूर्त रहस्यवादी भावधारा के दर्शन में बिंधे रहे', तो ऐसा लगता है कि मुक्तिबोध की विचारधारा उन्हें यह कहलाने के लिए विवश कर रही है। प्रसाद के यहाँ जीवन का अन्तर्जगत एवं बहिर्जगत दोनों है और साथ-साथ है। 'काव्यकला और अन्य निबन्ध' में जयशंकर प्रसाद की मान्यता है कि 'भारतीय विचारधारा ज्ञानात्मक होने के कारण मूर्त और अमूर्त का भेद हटाते हुए वाह्य और आभ्यंतर का एकीकरण करने का प्रयत्न करती है।' यह भी बकौल अशोक वाजपेयी साहित्य का यथार्थ है कि वह मूर्त-अमूर्त, वाह्य-आभ्यंतर, अतीत-वर्तमान, यथार्थ-आदर्श का

एकीकरण कर दें। प्रसाद जी का कथन है- 'जब हम समझ लेते हैं कि कला को प्रगतिशील बनाए रखने के लिए हमको वर्तमान सभ्यता का, जो सर्वोत्तम है, अनुसरण करना चाहिए तो हमारा दृष्टिकोण भ्रमपूर्ण हो जाता है। अतीत और वर्तमान को देखकर भविष्य का निर्माण होता है, इसलिए हमें साहित्य में एकांगी लक्ष्य नहीं रखना चाहिए।' क्योंकि यह एकांगिता हमें विचारधारा का उपनिवेश बना देगी और उपनिवेशवाद चाहे सत्ता का हो या विचारधारा का वह मनुष्य की स्वाधीनता एवं मुक्ति में बाधक है और इसमें कोई दो राय नहीं कि छायावाद मनुष्य की व्यापक मुक्ति की परियोजना का सांस्कृतिक आन्दोलन है और प्रसाद उसके जीवंत प्रतिनिधि, जिनके साथ एक संस्कृति की पूरी विरासत है। विजयदेव नारायण साही का कथन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, 'जिस तरह छायावाद युग की चरम आस्था यह है कि अंतर्जगत का सत्य वहिर्जगत् का सत्य ही है और दोनों में कभी व्यवधान पैदा नहीं हो सकता, उसी तरह उसकी मान्यता की दूसरी आधारशिला यह है कि नैतिक विज़न और कल्पनाशील विज़न दोनों वस्तुतः एक हैं और इन दोनों में कभी भी दरार नहीं पड़ सकती।' रामस्वरूप चतुर्वेदी की धारणा का स्मरण आज के उस उत्तर औपनिवेशक समय में ज्यादा प्रासंगिक लगता है कि 'प्रसाद ने मध्यकालीन सन्यासप्रधान आदर्श के विरोध में एक समृद्ध और समग्र दृष्टि की प्रस्तावना की, जहाँ भारतीय पुनर्जागरण के आधार ग्रंथ गीता का निष्काम कर्म नहीं है, वरन् जहाँ कर्म भोग को प्रेरित करता है और भोग कर्म को।' जयशंकर प्रसाद की इस पंक्ति पर ध्यान दें-